

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

नियमसार गाथा २९

विगत गाथाओं में पुद्गल द्रव्य का व्याख्यान करने के उपरान्त अब इस गाथा में पुद्गलद्रव्य के व्याख्यान का उपसंहार करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है ह

पोग्गलदव्वं उच्चइ परमाणू णिच्छएण इदरेण।

पोग्गलदव्वो त्ति पुणो ववदेसो होदि खंधस्स॥२९॥

(हरिगीत)

परमाणु पुद्गल द्रव्य है ह यह कथन है परमार्थ का।

स्कंध पुद्गल द्रव्य है ह यह कथन है व्यवहार का ॥२९॥

निश्चयनय से परमाणु को पुद्गलद्रव्य कहा जाता है और व्यवहारनय से स्कंध को पुद्गल द्रव्य कहा जाता है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“यह पुद्गल द्रव्य के कथन का उपसंहार है। शुद्धनिश्चयनय से स्वभावशुद्ध-पर्यायात्मक परमाणु को पुद्गलद्रव्य कहते हैं और व्यवहारनय से विभावपर्यायात्मक पौद्गलिक स्कंध उपचार से पुद्गलद्रव्य सिद्ध होता है।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इस प्रकार स्पष्ट करते हैं ह
“देखो ! क्या कहते हैं कि शुद्धनिश्चयनय से स्वभावशुद्धपर्याय स्वरूप परमाणु को ही अर्थात् जो पर से भिन्न है ह ऐसे निर्मल पर्यायवाले परमाणु को ही पुद्गलद्रव्य कहा गया है। भाई ! स्कन्ध को पुद्गलद्रव्य कहना तो उपचार है; क्योंकि वे सब स्कन्ध तो इकट्ठे हुये जड़ परमाणुओं का जत्था है, वह कोई एक वस्तु नहीं है; इसलिये जो अकेला परमाणु है, जिसको स्वभावशुद्धपर्याय है, उसको ही ह वास्तव में पुद्गलद्रव्य कहा है। इसीतरह आत्मा में राग और पुण्य-पाप रहित अर्थात् निर्मलपर्याय से सहित आत्मा को ही आत्मा कहा जाता है।”

देखो, यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि गाथा और तात्पर्यवृत्ति टीका में तो मात्र इतना ही लिखा है कि शुद्धपर्यायरूप से परिणमित अकेला एक पुद्गल परमाणु ही पुद्गल द्रव्य है; स्कन्ध को तो व्यवहार से पुद्गल कहा जाता है; परन्तु स्वामीजी उक्त पुद्गलद्रव्य संबंधी कथन को आत्मा पर भी घटित करते हैं। कहते हैं कि जिसप्रकार शुद्धपरमाणु ही निश्चय से पुद्गलद्रव्य है, स्कंध को पुद्गल कहना तो व्यवहार है;

१. नियमसार प्रवचन भाग-१, पृष्ठ २६४-२६५

उसीप्रकार शुद्ध पर्यायरूप से परिणमित आत्मा ही निश्चय आत्मा है, देहादि संयोग व रागादि विकार सहित आत्मा को आत्मा कहना तो व्यवहार है।

इस गाथा की टीका लिखने के बाद मुनिराज तीन छन्द प्रस्तुत करते हैं, उनमें से पहला छन्द इसप्रकार है ह

(मालिनी)

इति जिनपतिमार्गाद् बुद्धतत्त्वार्थजातः
त्यजतु परमशेषं चेतनाचेतनं च।
भजतु परमतत्त्वं चित्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तर्निर्विकल्पे समाधौ ॥४३॥

(हरिगीत)

जिनवरकथित सन्मार्ग से तत्त्वार्थ को पहिचान कर।
पररूप चेतन-अचेतन को पूर्णतः परित्याग कर ॥
हे भव्यजन ! नित ही भजो तुम निर्विकल्प समाधि में।
निजरूप ज्ञानानन्दमय चित्चमत्कारी आत्म को ॥४३॥

हे भव्यजीवो ! इसप्रकार जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित मार्ग से तत्त्वार्थों को जानकर पररूप चेतन-अचेतन समस्त पदार्थों को छोड़ो और अंतरंग निर्विकल्प समाधि में पर से भिन्न चित्चमत्कारमात्र निज परमात्मतत्त्व को भजो, अपने आत्मा की आराधना करो, साधना करो।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह
“आशय यह है कि जैन परमेश्वर के मार्ग के अतिरिक्त किसी अन्यमत में तत्त्व की यह बात नहीं हो सकती। इसलिये उन जिनपति के मार्ग द्वारा तत्त्वार्थसमूह को जानकर पर ऐसे समस्त चेतन-अचेतन को त्यागो।

देखो ! यहाँ कहते हैं कि स्त्री, पुत्र का आत्मा परचेतन है और देव-गुरु का आत्मा भी परचेतन है। अतः उनको दृष्टि में से त्यागो अर्थात् वे मेरे नहीं है ह ऐसा जानकर उनको दृष्टि में से छोड़ो।

देखो ! अरिहंत भगवान इस आत्मा से परचेतन हैं, सिद्धभगवान इस आत्मा से परचेतन हैं। अरे ! पाँचों परमेष्ठी इस आत्मा से परचेतन हैं। वे पर हैं; क्योंकि वे इस आत्मा के कहाँ हैं ? अतः उन समस्त परचेतन और अचेतन रागादि पुद्गल विकारों को और देहादि पुद्गलों को दृष्टि में से त्यागो। भाई ! जो तेरे में नहीं है, उनकी दृष्टि छोड़ और जो तेरे में है, वहाँ दृष्टि कर !

देखो यहाँ क्या कहते हैं कि अन्तर में इस आत्मा के सिवा अन्य सभी आत्मायें तुझसे भिन्न है। यहाँ तक कि निगोद से लेकर अरहंत-सिद्ध परमात्मा आदि पंचपरमेष्ठी

भी तेरे नहीं हैं अर्थात् वे तेरे आधार से नहीं रह रहे हैं, वे तो स्वयं से रहे हुये हैं, इसलिये तुझको उनसे कुछ लाभ नहीं है।^१

अरे ! भगवान की भक्ति का भाव हो तो वह भी राग होने से अचेतन ही है; इसलिये उसका भी लक्ष्य छोड़ दे तथा शरीर के परमाणु अनुकूल रहें तो मेरा धर्म टिका रह सकता है ह यह भी लक्ष्य में से निकाल दे और अंतरंग में निर्विकल्प समाधि में अर्थात् अंतरंग में राग रहित शांति और श्रद्धा की दशा में, परविरहित अर्थात् रागरहित अपने चैतन्यचमत्कार तत्त्व को भज !^२”

उक्त सम्पूर्ण कथन का आशय यह है कि यदि आत्मकल्याण करना है तो सर्वप्रथम जिनागम के आधार से वस्तुस्वरूप का सम्यक् निर्णय करना चाहिए। तदुपरान्त अपने से भिन्न चेतन-अचेतन सभी परपदार्थों से भिन्न अपने आत्मा में अपनापन स्थापित करके, परपदार्थों पर से दृष्टि हटाकर स्वयं में ही समा जाना चाहिए।

ध्यान रहे परचेतन पदार्थों में न केवल अपने स्त्री-पुत्रादि ही आते हैं; अपितु पंचपरमेष्ठी भी आते हैं। अतः स्वयं में समा जाने के लिए, समाधिस्थ हो जाने के लिए उन पर से दृष्टि हटानी होगी, उन्हें भी पर रूप ही जानना-मानना होगा; उन पर से भी उपयोग को हटाकर अपने आत्मा में केन्द्रित होना होगा।

दूसरा छन्द इसप्रकार है ह

(अनुष्टुप्)

पुद्गलोऽचेतनो जीवश्चेतनश्चेति कल्पना।
साऽपि प्राथमिकानां स्यान्न स्यान्निषपन्नयोगिनाम् ॥४४॥

(हरिगीत)

पुद्गल अचेतन जीव चेतन भाव अपरमभाव में।

निष्पन्न योगीजनों को ये भाव होते ही नहीं ॥४४॥

पुद्गल अचेतन है और जीव चेतन है ह ऐसे भाव (विकल्प) प्राथमिक भूमिकावालों को ही होते हैं, निष्पन्न योगियों को नहीं होते।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह
“अहा ! कहते हैं कि शुरुआत में अभी जिसको भेद करके ध्यान करना है, उसको ऐसा विकल्प होता है कि यह रागादिक पर अचेतन हैं और आत्मा (स्वयं) चेतन है। मुमुक्षुजीव को यह विचार प्रारंभिक भूमिका में ही होता है; परन्तु निष्पन्न योगियों को अर्थात् जिनका योग परिपक्व हुआ है, उनको नहीं होता।

जहाँ अन्दर में स्वभावसन्मुखता की रमणता उग्ररूप से प्रगट हुई है, उस योगी को ऐसी कल्पना नहीं होती कि यह राग अचेतन है और मैं चेतन हूँ; अपितु वह तो

ज्ञाता-दृष्टारूप परिणमता है। अहा ! जिसप्रकार सिद्धभगवान जानते-देखते हैं; उसीप्रकार यह जीव भी जानने-देखने के स्वभावरूप रहता है।

जिन्हें स्वरूप में स्थिरतारूप ध्यान नहीं है, उनको यह अचेतन है और यह चेतन हूँ इसप्रकार दो विभागरूप विकल्प होते हैं; परन्तु जो ज्ञान और आनन्दस्वभाव में लीन होते हैं, जमते हैं, उन्हें विकल्प नहीं होते।^१

जगत में पुद्गल हैं, स्कन्ध हैं, स्कन्ध छहप्रकार के हैं, स्वाभाविक कारणपरमाणु है, कार्यपरमाणु है, उत्कृष्ट और जघन्य परमाणु हैं हूँ ऐसा कहकर उसमें से सार यह निकाला कि वे सब भले ही हों; परन्तु मेरा उनके साथ कोई संबंध नहीं है।

पहले विचार में यह बात जरूर आती है कि पुद्गल तथा जो रागादि भाव हैं, वे अचेतन हैं और मैं उनको जाननेवाला एक चेतन हूँ; इसलिये मुझे निजचेतन में स्थिर होना चाहिये।

जहाँ प्रारंभ में यह विचार होता है, वहाँ स्थिरता नहीं होती; परन्तु निष्पन्न योगियों को उग्रपने आत्मा और राग की भिन्नता होकर, योग परिपक्वता अर्थात् स्थिरता हुई है। उनको स्वभाव में जिसकी एकाग्रता हुई है; उसकी कल्पना नहीं होती। इसी का नाम स्वभावसन्मुख की एकाग्रता है और यही मोक्ष का मार्ग है।

प्रश्न हूँ प्राथमिक भूमिका में अर्थात् मिथ्यादृष्टि ही न...?

उत्तर हूँ नहीं, सम्यग्दृष्टि भी; क्योंकि सम्यग्दृष्टि होने पर भी अभी जहाँ तक यह चेतन है और अचेतन है हूँ ऐसी विचारधारा चलती है, वहाँ तक उसको निष्पन्न स्थिरता नहीं हुई है हूँ ऐसा कहते हैं; तथापि वह है समकिति।

प्रश्न हूँ समकिति को चेतन तो प्राप्त हुआ है न ?

उत्तर हूँ हाँ, तो भी विकल्प है न ! उसको चेतन तो प्राप्त ही है; तथापि अभी विकल्प है। इसकारण उसे यह चेतन है और अचेतन है हूँ ऐसा भाव (विकल्प) आता है।

प्रश्न हूँ क्या शास्त्र लिखनेवाले प्राथमिक भूमिका में हैं ?

उत्तर हूँ नहीं, वे प्राथमिक भूमिका में नहीं हैं। वे तो अपने में जम रहे हैं और विकल्प, विकल्प के स्थान पर हैं।

यहाँ तो यह बात सिद्ध करना है कि पहले ऐसी कल्पना (विकल्प) होती है; परन्तु फिर स्वरूप में स्थिर होने पर समकिति और मुनि को हूँ सबको ऐसी कल्पना (विकल्प) नहीं होती।^२

उक्त कथन का सार यह है कि आत्मखोजी अज्ञानी जीवों को और ज्ञानियों को भी, जब वे समाधिस्थ नहीं होते हैं, तब उन्हें भी स्व-पर- भेदविज्ञान संबंधी विकल्प खड़े

होते हैं; किन्तु आत्मानुभूति के काल में, ध्यानस्थ अवस्था में भेदविज्ञान संबंधी विकल्प भी खड़े नहीं होते।

तीसरा छन्द इसप्रकार है हूँ

(उपेन्द्रवज्रा)

अचेतने पुद्गलकायकेऽस्मिन् सचेतने वा परमात्मत्वे ।

न रोषभावो न च रागभावो भवेदियं शुद्धदशा यतीनाम् ॥४५ ॥

(हरिगीत)

जड़ देह में न द्वेष चेतन तत्त्व में भी राग ना।

शुद्धात्मसेवी यतिवरों की अवस्था निर्मोह हो ॥४५ ॥

इस अचेतन पौद्गलिक शरीर में द्वेषभाव नहीं होता और सचेतन परमात्मतत्त्व में रागभाव नहीं होता हूँ ऐसी शुद्धदशा यतियों की होती है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस छन्द का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं हूँ
“अहा ! जिसे आनन्दस्वरूप ज्ञानभाव अनुभव में आया हो और उसकी साधना में ही जो वर्तते हों, उनको यति कहा जाता है।

अतः जिनको मात्र आत्मस्वभाव-समभाव प्रगट हुआ है हूँ ऐसे यतियों को परमात्मा के प्रति भी राग नहीं होता और पुद्गल के प्रति द्वेष नहीं होता अर्थात् उनको तीन लोक के नाथ तीर्थकर के प्रति राग और शरीरादि के प्रति द्वेष नहीं वर्तता।^१”

इस कलश में यही कहा गया है कि शुद्धात्मसेवी मुनिवरों को किसी के भी प्रति राग-द्वेष नहीं होता; सर्वत्र समभाव ही वर्तता है।

नियमसार गाथा ३०

विगत गाथाओं में पुद्गलद्रव्य का विस्तार से निरूपण करने के उपरान्त अब ३०वीं गाथा में धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य का स्वरूप संक्षेप में स्पष्ट करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है हूँ

गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीवपोग्गलाणं च ।

अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं ॥३० ॥

(हरिगीत)

सब द्रव्य के अवगाह में नभ जीव पुद्गल द्रव्य के।

गमन धिति में धर्म और अधर्म द्रव्य निमित्त हैं ॥३० ॥

जीव और पुद्गल द्रव्यों को गमन में निमित्त धर्मद्रव्य और गमनपूर्वक स्थिति का निमित्त अधर्मद्रव्य है तथा जीवादि सभी छह द्रव्यों को अवगाहन (रहने) में निमित्त आकाश द्रव्य है।

इस गाथा का भाव तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह

“यह धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य का संक्षिप्त कथन है।

यह धर्मास्तिकाय बावड़ी के पानी की भांति स्वयं गमनरूप क्रिया से रहित है। अ, इ, उ, ऋ, लृ ह इन पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतना समय जिन्हें सिद्धशिला पर पहुँचने में लगता है; जो सिद्धनाम के योग्य हैं; जो छह उपक्रमों से विमुक्त हैं अर्थात् जिनका संसारी जीवों के समान छह दिशाओं में गमन नहीं होता, मात्र ऊर्ध्वगमन ही होता है; जो मुक्तिरूपी सुन्दर नयनोंवाली सुलोचना के द्वारा देखे जाने योग्य हैं; जो तीन लोकरूपी पर्वत के शिखर हैं; जिन्होंने क्लेश के गृह एवं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के परावर्तनरूप पंचविध संसार को दूर कर दिया है और जो पंचम गति की सीमा पर स्थित हैं अर्थात् मुक्तिरूप नगर के निकट हैं; ऐसे अयोगी जिनों को स्वभावगति क्रियारूप से परिणत होने में हेतु (निमित्त) धर्मद्रव्य है।

वह धर्मद्रव्य छह उपक्रम से युक्त अर्थात् छहों दिशाओं में गमन करनेवाले संसारियों की विभावगति क्रिया में भी हेतु (निमित्त) होता है।

इसप्रकार वह धर्मद्रव्य समस्त जीवों की गमनक्रिया में निमित्त होता है।

जिसप्रकार पानी मछलियों के आवागमन में निमित्त होता है; उसीप्रकार धर्मद्रव्य सभी जीव और पुद्गलों के आवागमन में निमित्त होता है।

वह अमूर्त धर्मद्रव्य आठप्रकार के स्पर्शों, पाँच-पाँच प्रकार के रसों व वर्णों और दो प्रकार की गंधों से रहित; अगुरुलघुत्वादि गुणों का आधारभूत, लोकाकाश के समान आकारवाला, अखण्ड, एक पदार्थ है।

‘गुण सहभावी होते हैं और पर्यायें क्रमवर्ती होती हैं’ ह ऐसा आगम का वचन होने से गति के हेतुभूत इस धर्मद्रव्य के शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायें होती हैं।

अधर्मद्रव्य में विशेष बात यह है कि वह जीव और पुद्गलों को गमनपूर्वक स्थिति (ठहरने) में निमित्त होता है। अधर्मद्रव्य में शेष बातें (गुण-पर्यायें) धर्मास्तिकाय के समान ही होती हैं।

इसीप्रकार आकाश का भी अवगाहदान लक्षण विशेष गुण है। आकाश की शेष विशेषताएँ धर्म-अधर्मद्रव्य जैसी ही हैं।

ध्यान रखने की बात यह है कि लोकाकाश के धर्म और अधर्म द्रव्य के समान प्रमाण (आकार) में होने से अलोकाकाश में कोई न्यूनता (कमी) नहीं आती, वह तो अनन्त ही है।”

(क्रमशः)